THE TIMES OF INDIA

Date:11-08-23

Their Bhasha, Their Future

Research has shown teaching in mother tongue leads to better skilling as well as better grasp of English. Recent CBSE decision is the right call, argues IMF's executive director.

Krishnamurthy Subramanian

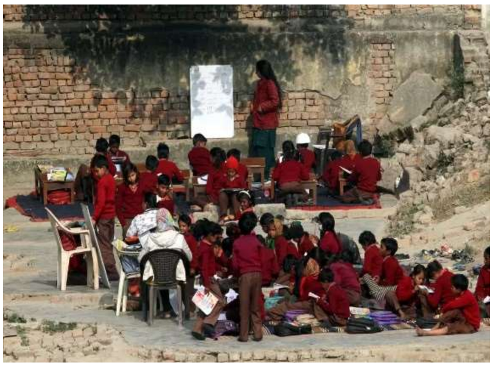

As we debate our identity, culture, and education, research-based evidence makes one aspect unmistakably clear: teaching children in a language they understand is an indispensable pedagogical method. Shockingly, however, Unesco data shows that up to 40% of the global population is taught in a language other than their mother tongue, which leads to learning setbacks and social inequalities. So, the July 21 order by the Central Board of Secondary Education (CBSE) on the use of mother tongue for instruction is an excellent move.

Thomas Macaulay, who despised India and its knowledge system, championed English education "to form a class who may be interpreters between us and the millions whom we govern… (to create) a class of persons Indian in blood and colour, but English in tastes, in opinions, in morals and in intellect."

Seen in this backdrop, it is not at all surprising that Gandhiji expressed deep concern over western education. Writing in Harijan, Gandhiji compellingly argued: "English, having been made a medium of instruction in all branches of learning, has created a permanent barrier between the highly educated few and the uneducated many. It has hindered the dissemination of knowledge to the masses. The excessive emphasis on English has burdened the educated class, leaving them mentally impaired for life and disconnected from their own land."

Other freedom fighters such as CRajagopalachari, Bal Gangadhar Tilak, Gopal Krishna Gokhale, and Annie Besant recognised the significance of education that was controlled, shaped, and carried on by Indians. These freedom fighters possessed not only an excellent understanding of India but also felt proud of its spiritual and cultural ethos. Therefore, unlike Jawaharlal Nehru who seemingly advocated everything Western, these stalwarts carried a balanced assessment of the benefits of Western thought. Naturally, these icons of our freedom struggle foresaw initial education in their mother tongue followed by English as a second language as the way to nurture students that could develop their intellect – even when articulated in English – and an identity consistent with the Indian ethos. In her influential work Principles of Education Annie Besant advocated for schools where instruction would be in the mother tongue of each district, while also incorporating English as a second language.

Will education in the mother tongue undermine the career prospects of students? No! Through its Global Education Monitoring Reports, Unesco has consistently advocated for education in the mother tongue since 1953. In its 2016 report, Unesco reiterated the message: “To be taught in a language other than one’s own has a negative effect on learning, especially for children from poor families.” The report recommended that “at least six years of mother tongue instruction is needed to reduce learning gaps for minority language speakers.” A background research study for the 2005 Unesco report notes that “Mother tongue-based bilingual schooling is seldom disputed on the basis of its pedagogical reasoning.”

If English is required to get good jobs, especially in the service sector in India, would education in the mother tongue not rob students of such opportunities? No! Research shows that by starting with the mother tongue as the primary medium and introducing English later, learning English becomes easier. When children acquire a second language later in life, the skills developed while being taught in their mother tongue during their formative years prove invaluable. Research done at the University of Ontario in Canada shows that when children acquire a second language later in life, they can utilise the skills they learn while being taught in their mother tongue as younger children. An eightyear study on Latin American-origin students in the US found that proficiency in English correlates inversely with exposure to instruction in English. Students who were taught in primary school using Spanish performed better at English than Latin American-origin students who were taught in English from the beginning. The more highly developed the first language skills, the better the results in the second language, because language and cognition in the second build on the first.

In the Indian context, my former ISB colleague, Tarun Jain, finds in his research that education in a language that is different from the mother tongue can decrease literacy rates by 18% and rates of college graduation by 20%. As the evidence on the pedagogical benefits of education in the mother tongue is so unambiguous in India and across the world, policymakers must learn to ignore the cacophony filled with unscientific, anecdotal arguments that English education is essential for India’s progress.

While the CBSE order follows up on the good intent enshrined in the National Education Policy, more work awaits policymakers. In areas of teacher recruitment, curriculum development, and the provision of teaching materials, schools must adapt to cater to the diverse linguistic backgrounds of their students. As a critical step, GOI’s own network of Kendriya Vidyalayas and Navodaya Vidyalayas should take the lead in implementing this order.

Given its powerful benefits, education in the mother tongue is a fundamental right of every Indian child. It is an educational pathway that honours our spiritual and cultural ethos while nurturing learning excellence. By providing children with an education that they can truly understand and relate to, we lay the foundation for a more united, tolerant, and successful society.

दैनिक भास्कर

Date:11-08-23

समाज और राज्य के बीच अविश्वास घातक है

संपादकीय

'बुलडोजर न्याय' असंवैधानिक बुनियाद पर खड़ा है, लिहाजा ही शुरू में यह लोगों की उत्सुकता का कारण बना हो, अब आम लो भी इसे गलत मानने लगे हैं। यह सच है कि दशकों से न्याय में देरी से अपराधियों के हौसले बुलंद होते रहे हैं, लेकिन आज कई राज्यों की सरकारें इसका खुलेआम प्रयोग कर रही हैं और जनता के एक वर्ग से 'यूपी की तरह बुलडोजर चलाने की मांग भी उठ रही है । यही कारण है कि एक राज्य के हाई कोर्ट ने दंगों को लेकर बुलडोजर चलाने की सरकारी कवायद पर रोक लगाते हुए प्रश्न के रूप में गहरी टिप्पणी की है। कोर्ट ने पूछा, 'कहीं यह एथनिक क्लीजिंग तो नहीं है ?' सरकारों को यह सोचना पड़ेगा कि आईपीसी की कौन-सी धारा राज्य को किसी का घर गिराने की ताकत देती है ? बहाना है कि अनधिकृत निर्माण था। फिर वर्षों पहले बनी इमारतों के अनधिकृत होने का पता अब तक क्यों नहीं चला? घर के अनधिकृत होने के नाम पर सीधे बैकडेट में नोटिस नाकर उसे जबरन घर के दरवाजे पर चस्पा कर फोटो ले लिया जाता है। यानी सबकुछ फर्जी। यह राज्य के प्रति जनता के विश्वास को खत्म करेगा और समाज और राज्य के बीच यह अविश्वास प्रजातंत्र के लिए घातक होगा। भले आज इसका राजनीतिक लाभ मिले लेकिन इस तरह का शासन-तंत्र कालांतर में सामाजिक अराजकता को जन्म देता है।

Date:11-08-23

समय आ गया है हम अपनी वन-चाइना नीति बदलें

पलकी शर्मा, (मैनेजिंग एडिटर)

ताइवान की राजधानी में तीन अनपेक्षित मेहमान पधारे हैं- भारत के पूर्व सेना प्रमुख जनरल एम.एम.नरवणे, पूर्व नौसेना प्रमुख एडमिरल करमबीर सिंह और पूर्व वायुसेना प्रमुख एयर चीफ मार्शल आर.के.एस. भदुरिया। वे केतागलान फोरम में शरीक होने गए हैं, जो भारत-प्रशांत सुरक्षा का सालाना कार्यक्रम है। इसे ताइवानी सरकार द्वारा आयोजित किया जाता है। यह अनधिकृत यात्रा है, पर संदेश साफ है- भारत ताइवान से संवाद-प्रक्रिया को आगे बढ़ा रहा है- न केवल सांस्कृतिक व आर्थिक, बल्कि रणनीतिक स्तर पर भी।

यह एक महत्वपूर्ण बदलाव है। भारत के ताइवान से अधिकृत सम्बंध नहीं हैं। वास्तव में, दुनिया में 12 ही देशों ने ताइवान को मान्यता दी है। शेष चीन और उसकी राजधानी बीजिंग को मान्यता देते हैं। यहां पर भारत और ताइवान के ताल्लुकात पर एक नजर डालना जरूरी होगा। दिसम्बर 1949 में भारत चीन को मान्यता देने वाले पहले एशियाई देशों में से एक बना था। आगामी 45 वर्षों तक भारत और ताइवान के बीच कोई औपचारिक सम्पर्क नहीं रहा। गतिरोध की हालत थी। ताईवान का रवैया भी अतिवादी था। वह अपनी वन-चाइना नीति पर अड़ा रहा, जिसमें ताइपेई सत्ता का केंद्र था। तिब्बत और मैकमोहन लाइन पर उसकी पोजिशन ठीक वही थी, जो चीन की थी। उसके अमेरिका से गहरे सम्बंध थे, लेकिन भारत जैसे देशों में उसकी अधिक रुचि नहीं थी।

लेकिन 1990 के दशक में भारत की विदेश नीति बदली। उसने लुक-ईस्ट नीति अपनाई, जिसके चलते ताइवान से रिश्ते बढ़ाने की कोशिश की और ताइवान ने भी अच्छी प्रतिक्रिया की। 1995 में अनधिकृत दूतावासों की स्थापना की गई। 21वीं सदी की शुरुआत तक भारत के चीन से सम्बंध अपने सबसे अच्छे दौर में प्रवेश कर चुके थे। प्रधानमंत्री वाजपेयी चीन की सफल यात्रा करके लौटे थे। भारत की प्राथमिकताएं एक बार फिर ताइवान से दूर खिसक गईं। 2008 के बाद कुछ छिटपुट कोशिशें की गईं, जब ताइवानी मंत्रियों ने भारत की यात्रा की थी, लेकिन यह भारत को जानने-समझने तक ही सीमित थी। बड़ा बूस्ट 2014 में तब आया, जब प्रधानमंत्री मोदी ने ताइवानी प्रतिनिधियों को अपने शपथ-ग्रहण समारोह में बुलाया। वह अपनी तरह का पहला और साहसी कदम था। ताइवान को लेकर मोदी के मन में एक राजनीतिक परिप्रेक्ष्य था और अतीत में भी वे ताईवान से रिश्ते कायम कर चुके थे। 1999 में मोदी ने भाजपा महासचिव के रूप में ताइवान की यात्रा की थी। 2011 में गुजरात के मुख्यमंत्री के रूप में उन्होंने भारत में ताइवान के सबसे बड़े प्रतिनिधिमंडल की मेजबानी की थी। प्रधानमंत्री के रूप में भी उन्होंने ताइवान से सम्बंध बनाए रखे।

इस अवधि में चीन के साथ हमारे सम्बंधों में उतार-चढ़ाव आता रहा। 2019 में प्रधानमंत्री के शपथ-ग्रहण समारोह में ताइवान को न्योता नहीं दिया गया था। यह गलवान में हुई झड़प से पहले की बात है। भारत तब भी उम्मीद कर रहा था कि चीन से उसके सम्बंध सुधरेंगे। लेकिन 2020 के बाद भारत ने ताइवान से रिश्ते गहराने के लिए अधिक सरगर्मी से कोशिशें शुरू कर दीं। 2022 में चीन के डिप्टी ट्रेड मिनिस्टर भारत आए। ताइवान मुम्बई में एक कल्चरल एक्सचेंज सेंटर स्थापित करने की भी तैयारी कर रहा है। चेन्नई और नई दिल्ली में पहले ही ऐसे केंद्र स्थापित किए जा चुके हैं।

सवाल उठता है, भारत ताइवान से रिश्ते क्यों कायम कर रहा है? इसके तीन कारण हैं। पहला, चीन का ध्यान भारत की सीमा से हटाना। दूसरा, निवेश को बढ़ावा देना, क्योंकि आज ताइवान सेमीकंडक्टर चिप्स के निर्माण में दुनिया में अग्रणी है। भारत चिप-हब बनना चाहता है और इसके लिए उसे ताइवान की मदद की दरकार है। ताइवान को भी अपने कारोबार में विविधता लाने के लिए भारत की जरूरत है। 2010 में उसका लगभग 80% विदेशी निवेश चीन को गया था। यह एक समस्या थी, क्योंकि आपका सबसे बड़ा दुश्मन आपका शीर्ष निवेश स्थल नहीं हो सकता। इसलिए ताइवान दूसरे विकल्पों की तलाश कर रहा है। पिछले साल ताइवान ने चीन में केवल 33% निवेश किया था। भारत को इस बदलाव का लाभ उठाना चाहिए। और तीसरा कारण है, रणनीतिक जरूरतें। अगर ताइवान में युद्ध होता है तो यह केवल उस क्षेत्र तक सीमित नहीं रहेगा। इसका असर भारत पर भी पड़ेगा। अगर पश्चिम भारत से सैन्य मदद मांगता है तो वह क्या करेगा? वह चिप की किल्लत का सामना कैसे करेगा? इन सवालों के जवाब खोजना जरूरी है और भारत उन पर काम कर रहा है। आज भारत वन-चाइना नीति को पूरी तरह त्याग तो नहीं सकता, पर उसे डायल्यूट करना जरूर एक विकल्प है।

दैनिक जागरण

Date:11-08-23

न्यायिक कसौटी पर संसद का निर्णय

सीबीपी श्रीवास्तव, (लेखक संटर फार अप्लाइड रिसर्च इन गवर्नेंस के अध्यक्ष हैं)

एक बार फिर से संविधान के अनुच्छेद 370 के निराकरण की वैधता का मुद्दा चर्चा में है। उच्चतम न्यायालय में इस पर हो रही सुनवाई पर कई विश्लेषकों और वादी पक्ष का यह दावा है कि सरकार का इस अनुच्छेद को अप्रभावी बनाने का निर्णय संविधान से सुसंगत नहीं था और इस आधार पर जम्मू-कश्मीर को संघ शासित क्षेत्रों में बांटना अवैध था। उनका दावा है कि अनुच्छेद 370 में जम्मू-कश्मीर की संविधान सभा की सिफारिश पर ही राष्ट्रपति को निर्णय लेने की शक्ति है और चूंकि संविधान सभा का 1957 में ही विघटन हो गया था इसलिए अनुच्छेद 370 एक स्थायी प्रविधान बन गया। ऐसी स्थिति में 2019 में राष्ट्रपति ने जो आदेश जारी किए थे उसे संवैधानिक नहीं कहा जा सकता। उल्लेखनीय है कि अनुच्छेद 370 संविधान के भाग 21 में है, जिसका शीर्षक 'अस्थायी, संक्रमणकालीन और विशेष प्रविधान' है। अनुच्छेद 370 का शीर्षक है 'जम्मू-कश्मीर राज्य के संबंध में अस्थायी प्रविधान।' इस अनुच्छेद के खंड-तीन में एक सार्थक प्रविधान यह है कि राष्ट्रपति इस अनुच्छेद को अप्रभावी बनाने के लिए एक सार्वजनिक अधिसूचना जारी कर सकते हैं, लेकिन इसके परंतुक में उल्लेख है कि जम्मू-कश्मीर की संविधान सभा की सहमति आवश्यक होगी। प्रश्न यह है कि जब संविधान सभा विघटित हो गई है तब इस परंतुक का प्रभाव नहीं रहेगा, लेकिन क्या इस आधार पर इस अनुच्छेद के अर्थपूर्ण भाग को भी अप्रभावी बनाया जा सकता है? अगर ऐसा होगा तो संविधान के अर्थपूर्ण उपबंधों की विश्वसनीयता के संदिग्ध हो जाने की आशंका होगी। अतः इस पर न्यायालय द्वारा अवश्य ही विचार किया जाएगा।

इस संबंध में मुख्य न्यायाधीश ने एक अहम मुद्दा उठाया है कि संविधान सभा संसद और सर्वोच्च न्यायालय की तरह कोई स्थायी संस्था नहीं है। किसी भी संविधान सभा का जीवन अनिश्चित नहीं हो सकता। जम्मू-कश्मीर संविधान सभा का गठन एक विशेष उद्देश्य के लिए किया गया था, जो उद्देश्य जम्मू-कश्मीर के संविधान का मसौदा तैयार करना था। जम्मू-कश्मीर संविधान बनने के बाद उसका कार्य पूरा हो गया। ऐसी स्थिति में अनुच्छेद 370 को निरस्त करने से पहले संविधान सभा की 'सिफारिश' को आवश्यक बनाने वाले इस प्रविधान का कोई अनुप्रयोग नहीं है। यदि प्रविधान समाप्त हो जाता है तो निश्चित रूप से अनुच्छेद 370 में खंड-तीन का मूल भाग बना रहेगा। प्रश्न है कि क्या संविधान सभा के विघटन के बाद अनुच्छेद 370 स्वतः स्थायी उपबंध बन गया? ऐसी कोई बात संविधान में उल्लिखित नहीं है कि कोई भी उपबंध स्वतः अपने स्वरूप में परिवर्तन कर सकता है। इसका अर्थ यह भी है कि संसद (विधायिका) को ही ऐसी शक्ति होनी चाहिए, क्योंकि वही भारत की संसदीय शासन व्यवस्था में सर्वोच्च है और ऐसे किसी भी कार्य के लिए संविधान में संशोधन की आवश्यकता भी होगी। वादी पक्ष के वकील कपिल सिब्बल का यह कहना भी अनुचित है कि 370 हटाने का फैसला जनमत संग्रह से होना चाहिए। सुप्रीम कोर्ट ने भी उनकी इस बात से असहमति जताते हुए कहा कि हमारे संविधान के तहत जनमत संग्रह की कोई जगह नहीं है।

जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल की स्थिति अन्य राज्यों के राज्यपालों से भिन्न रही है और उसे मूलतः सदर-ए-रियासत स्वीकार किया गया था। भारत के साथ एकीकृत होने और जम्मू-कश्मीर को राज्य का दर्जा दिए जाने के बाद उसे

राज्यपाल कहा गया था। ऐसे राज्यपाल को तब शक्तियां मिल जाती हैं जब जम्मू-कश्मीर विधानसभा नहीं हो। इसी आधार पर 2019 में जम्मू-कश्मीर सरकार के रूप में राज्यपाल से सहमति लेकर केंद्र द्वारा राज्य को संघ शासित क्षेत्र में बदलने का निर्णय लिया गया था। जम्मू-कश्मीर का विलय पत्र के आधार पर अर्जन किया गया था और फिर संविधान के अनुच्छेद-दो के तहत भारत के राज्य क्षेत्र में उसका प्रवेश कराया गया। इस अनुच्छेद में उल्लेख है कि किसी नए राज्य के प्रवेश या स्थापना के लिए नियमों और शर्तों का निर्धारण संसद का विवेकाधिकार है, जिसके लिए वह विधि बना सकती है। जम्मू-कश्मीर को नए राज्य के रूप में स्थापित करने और पहली एवं चौथी अनुसूची में आवश्यक संशोधन के बाद वह पूरी तरह भारत के राज्य क्षेत्र का अभिन्न अंग बन गया था। ऐसी स्थिति में राज्यों के लिए विशेष उपबंधों के अंतर्गत जम्मू-कश्मीर के लिए कई अतिरिक्त सुविधाएं भी शामिल हैं, लेकिन इससे संसद की शक्तियों पर नकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ता। जम्मू-कश्मीर को भारत के राज्य क्षेत्र में शामिल करने का निर्णय राष्ट्रपति ने संसदीय स्वीकृति के तहत ही लिया था। संविधान के सभी उपबंध भारत की जनता द्वारा समर्थित और अधिनियमित हैं और संविधान ने ही विधि निर्माण के लिए संसद को सर्वोच्च संस्था बनाया है। उसकी सर्वोच्चता इस रूप में भी सिद्ध होती है कि अनुच्छेद 122 में संसदीय कार्यवाहियों में न्यायपालिका का हस्तक्षेप रोका गया है। ऐसे में यदि हम संसद की विधि निर्माण की शक्तियों पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं तो यह भारत में लोकप्रिय संप्रभुता के सिद्धांत के विरुद्ध होगा।

संविधान सभा की अनुशंसा का उपबंध जम्मू-कश्मीर की सांस्कृतिक एवं राजनीतिक सुरक्षा के उद्देश्य से किया गया था, ताकि भारत की सामरिकता प्रभावित न हो और देश अखंड बना रहे। यह तत्कालीन परिस्थितियों की मांग थी। भारत के संविधान की मूल योजना और राष्ट्रहित को सर्वोपरि मानते हुए सरकार ने संसदीय प्रक्रिया से 2019 में नए आदेश जारी किए। यदि इसे एक राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति वाला कदम भी मानें तो भी संविधान ने ही राष्ट्रपति या सरकार को इसकी संस्थागत शक्ति दे रखी है। देखना यह है कि कि शीर्ष अदालत इस विषय पर क्या रुख अपनाती है।

जनसत्ता

Date:11-08-23

योजना में सेंध

संपादकीय

सरकारी योजनाओं में सेंध लगाने वाले हर समय ताक में रहते हैं। खासकर गरीबों के लिए चलाई जाने वाली ज्यादातर योजनाएं इसलिए अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाती हैं कि उनमें अनियमितताओं की दर सबसे अधिक देखी जाती है। सरकारें इस हकीकत से अनजान नहीं हैं। मगर हैरानी की बात है कि कल्याण योजनाएं शुरू करने से पहले उन पर निगरानी के पुख्ता इंतजाम नहीं किए जाते। आयुष्मान भारत प्रधानमंत्री जन आरोग्य योजना शुरू की गई थी, तब उम्मीद बनी थी कि इससे गरीब परिवारों को मुफ्त इलाज का लाभ मिल सकेगा। इस तरह देश का स्वास्थ्य सूचकांक भी सुधरेगा। मगर अभी नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक यानी कैग ने इस योजना के संबंध में जो आंकड़े पेश किए हैं, वे चिंता पैदा करने वाले हैं। कैग ने तीन ऐसे मोबाइल नंबरों की पहचान की है, जिन पर क्रमशः साढ़े सात लाख, एक लाख चालीस हजार और छियानबे हजार लोग इस योजना के तहत पंजीकृत थे। एक पैन नंबर पर दो पंजीकरण के कई मामले

पाए गए, सात आधार नंबरों पर साढ़े चार हजार से अधिक लोगों का पंजीकरण हुआ है। इसमें तैंतालीस हजार से अधिक ऐसे परिवार पंजीकृत पाए गए, जिनमें सदस्यों की संख्या ग्यारह से लेकर दो सौ एक तक है। छह राज्यों में एक लाख से ऊपर पेंशनभोगी भी इस योजना का लाभ उठा रहे हैं।

कैग ने सितंबर 2018 से मार्च 2021 के बीच की अवधि में हुई अनियमितताओं का विश्लेषण किया है। ये अनियमितताएं इसलिए हो पाईं कि लाभार्थियों के पंजीकरण के सत्यापन में पुख्त तरीका नहीं अपनाया गया। बहुत सारे लोगों ने अवैध नाम, अवास्तविक जन्मतिथि, नकली पहचान पत्र, परिवार के सदस्यों की गलत संख्या आदि दर्ज करा कर इस योजना का लाभ उठाते रहे। विश्लेषित अवधि के दौरान आयुष्मान भारत योजना के तहत सात करोड़ सत्तासी लाख लोग पंजीकृत थे। इस तरह अंदाजा लगाया जा सकता है कि जिन समूहों को ध्यान में रख कर यह योजना शुरू की गई थी, उनमें से कितने लोग इसका लाभ पाने से वंचित रह गए और अपात्र लोगों ने इसका फायदा उठा लिया। दरअसल, इस योजना के तहत स्वास्थ्य विभाग स्वास्थ्य बीमा कंपनियों को भुगतान करता है, जिनके जरिए इलाज करने वाले अस्पतालों को भुगतान किया जाता है। यह बात तो लंबे समय से उठाई जा रही थी कि बीमा कंपनियां और बहुत सारे निजी अस्पताल मिलीभगत करके आयुष्मान भारत योजना में सेंधमारी कर रहे हैं, मगर उन पर नजर रखने के पुख्ता इंतजाम नहीं किए गए।

योजनाओं का वास्तविक लाभ तब तक लक्षित समूह तक नहीं पहुंच पाता, जब तक कि उन पर निगरानी का तंत्र व्यावहारिक और पारदर्शी न हो। आयुष्मान भारत की तरह ही अनेक योजनाएं बड़ी अनियमिताओं का शिकार हो चुकी हैं। मनरेगा के अंतर्गत भी बड़े पैमाने पर धोखाधड़ी की शिकायतें आई थीं, जिस पर रोक लगाने के लिए कुछ तकनीकी इंतजाम किए गए, वास्तविक लाभार्थियों की पहचान में मुस्तैदी बरती जाने लगी। हालांकि अब भी मनरेगा पूरी तरह भ्रष्टाचार मुक्त नहीं हो पाई है। मध्याह्न भोजन योजना, सार्वजनिक वितरण प्रणाली आदि में भी इसी तरह लोगों ने सेंध लगाने का प्रयास किया। पिछले साल प्रधानमंत्री किसान सम्मान निधि योजना में भी बड़े पैमाने पर ऐसे लोगों का पंजीकरण चिह्नित किया गया, जो इसके सर्वथा अपात्र थे। इतने बड़े अनुभवों के बाद भी अगर कल्याण योजनाओं में सेंधमारी रोकने के पुख्ता और व्यावहारिक इंतजाम नहीं हो पा रहे हैं, तो इन योजनाओं की प्रासंगिकता ही प्रश्नांकित होती है।

Live हिन्दुस्तान.com

Date:11-08-23

चुनाव के लिए नियुक्ति

संपादकीय

मुख्य चुनाव आयुक्त सहित चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति और सेवा शर्तों को नियंत्रित करने के लिए कानून की तैयारी चर्चा में है। प्रस्तावित विधेयक के अनुसार, चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति में देश के प्रधान न्यायाधीश की भूमिका समाप्त

हो जाएगी। मुख्य चुनाव आयुक्त और अन्य चुनाव आयुक्त (सेवा-नियुक्ति शर्तें एवं कार्यकाल) विधेयक, 2023 के गुण-दोष पर विमर्श तय है। गौर करने की बात है कि यह विधेयक सर्वोच्च न्यायालय के एक हालिया फैसले की रोशनी में तैयार किया गया है। सर्वोच्च न्यायालय ने चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति के संबंध में कानूनी शून्यता का उल्लेख किया था। प्रस्ताव के अनुसार, अब जो चुनाव आयुक्त या मुख्य चुनाव आयुक्त चुने जाएंगे, उनका फैसला प्रधानमंत्री, एक कैबिनेट मंत्री व लोकसभा में विपक्ष के नेता मिलकर करेंगे। 2 मार्च, 2023 के सर्वोच्च न्यायालय के फैसले में यह कहा गया था कि जब तक केंद्र सरकार भारत के चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति संबंधी यथोचित कानून नहीं लाती, तब तक ये नियुक्तियां प्रधानमंत्री, प्रधान न्यायाधीश व नेता प्रतिपक्ष की समिति की सलाह पर की जानी चाहिए। न्यायालय की प्रशंसा होनी चाहिए कि उसने कमी की ओर इशारा किया और अब सरकार इस दिशा में पहल कर रही है।

हालांकि, यह शिकायत सामने आई है कि प्रस्तावित संशोधन से देश के प्रधान न्यायाधीश की उपेक्षा होगी, पर वास्तव में यह फैसला तो सरकार का ही है। कहीं न कहीं न्यायाधीश की नियुक्ति में भी सरकार की भूमिका होती ही है। उच्च स्तर पर होने वाली किसी भी नियुक्ति में सरकार की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता और इसे गलत भी नहीं ठहराया जा सकता। पहले भी सरकारों ने आयुक्त की नियुक्ति प्रक्रिया और चुनाव आयोग के आकार में परिवर्तन किए हैं। संविधान के तहत साल 1950 में एक सदस्यीय चुनाव आयोग का गठन हुआ था और 15 अक्तूबर, 1989 तक वह एक सदस्यीय ही रहा। तत्कालीन सरकार ने उसे बहुसदस्यीय बना दिया, लेकिन दो महीने बाद ही यह फिर से एक सदस्यीय हो गया। साल 1993 में तत्कालीन सरकार ने इसे फिर तीन सदस्यीय बना दिया। तब भी यह आरोप लगा था कि ईमानदार चुनाव आयुक्त टी एन शेषन पर लगाम कसने के लिए ऐसा किया गया है। खैर, कुछ विवाद के बाद सरकार की वह कोशिश कामयाब रही थी और आज भी चुनाव आयोग तीन सदस्यों के साथ अच्छा काम कर रहा है। लोग आयोग से उम्मीदें रखते हैं और यह सफलतापूर्वक चुनावी प्रक्रियाओं को अंजाम देता आ रहा है।

अगर सरकार की मंशा चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति प्रक्रिया से प्रधान न्यायाधीश को अलग रखने की है, तो इसे समझने की जरूरत है। न्यायपालिका पहले से ही मुकदमों के दबाव में है, ऐसे में, प्रधान न्यायाधीश को किसी नए काम में शामिल करने या न करने का फैसला विचारणीय है। जिन लोगों को शंका है कि इससे चुनाव आयुक्तों की निष्पक्षता प्रभावित हो सकती है, तो ऐसे लोगों को आश्वस्त रहना चाहिए, क्योंकि चुनाव में होने वाली कोई भी कमी या गड़बड़ी अंततः न्यायालय में ही पहुंचेगी। लोकतंत्र और विश्वसनीय चुनाव इस देश के सम्मान में चार चांद लगाते रहे हैं, अतः कानून कोई भी बन जाए, अंततः सरकार ही निष्पक्षता और सेवा बहाल रखने के लिए जिम्मेदार है और हमेशा रहेगी। बेशक, सबको ध्यान रखना होगा कि चुनाव आयुक्तों से इस देश के लोग क्या उम्मीदें रखते हैं।

Date:11-08-23

संविधान के सहारे ही संभालिए सद्भाव

आनंद कुमार, (समाजशास्त्री)

हरियाणा के नूंह में भड़की हिंसा के बाद राज्य के कई गांवों से यह खबर आई थी कि वे अपने यहां संप्रदाय विशेष का बहिष्कार करेंगे। यह आत्मघाती अपील थी। समाज का ताना-बाना सिर्फ धर्म से नहीं बनता, उसमें बाजार की अपनी

भूमिका होती है और उसका एक सच मानवीय एकता भी है। मानव जीवन के कई आयाम होते हैं और उनमें से कुछ ही धर्म द्वारा संचालित होते हैं, इसीलिए मुसलमानों के बहिष्कार के फैसले से पीछे हटने का पंचायतों का ताजा फैसला सुखद माना जाएगा। यह वाकई समाजशास्त्रीय दृष्टि से हास्यास्पद स्थिति थी। क्या हमारी जिंदगी धर्म के सिद्धांतों पर चलती है? कोई डॉक्टर, वकील, ऑटो ड्राइवर, फल विक्रेता आदि यूं ही अपनी सेवाएं नहीं देते। हम इसके बदले उचित भुगतान करते हैं। इसमें यह अपेक्षा नहीं की जाती कि समानधर्मी होने की वजह से कोई सेवा के बदले अधिक मूल्य चुकाएगा या कोई विक्रेता कम दाम पर अपनी सेवाएं देगा।

दरअसल, हर बहुधर्मी देश में धर्मों के बीच वर्चस्व की एक धारा निरंतर चलती रहती है और प्राचीन इतिहास वाले देशों में एक से ज्यादा धर्मों का होना अप्रत्याशित भी नहीं है। ऐसे में, भारत जैसे प्राचीन सभ्यता वाले राष्ट्र में, जहां दुनिया के सभी धर्मों का अनुसरण करने वाले लोगों की अच्छी तादाद है, और जहां बंटवारे का इतिहास भी है, वहां छोटे-बडे धर्मों के बीच का रिश्ता कभी तनावपूर्ण, तो कभी सद्भावपूर्ण रहता आया है।

आज से तीन दशक पहले पंजाब में अलगाववाद की ऐसी प्रवृत्ति फैली थी कि न सिर्फ सिखों के धर्मस्थल पर कब्जा करने की दुखद कोशिश हुई, बल्कि हमने अपने एक प्रधानमंत्री को भी खो दिया, जिसके बाद हजारों निर्दोष सिखों की हत्या उग्र भीड़ ने की। बीते कुछ समय से पूर्वोत्तर में ईसाई धर्म की प्रधानता वाले राज्य, विशेषकर नगालैंड में अलगाववाद का एक इतिहास दिखा है। मगर उत्तर भारत में हिंदू व मुसलमान के रिश्तों को लेकर पिछले तीन दशकों से एक अजीब कशमकश चल रही है। इसमें साल 1989-90 में हुए भागलपुर के दंगे, उससे पहले बंबई (अब मुंबई) की भिवंडी में 1984 में हुए नरसंहार और उसके बाद 1992 में बाबरी मस्जिद विध्वंस की एक दुखद शृंखला लंबी छाया की तरह आज के हिंदुओं और मुसलमानों के बीच मौजूद है। हमें इसी पृष्ठभूमि में हरियाणा की हिंसा को देखना चाहिए।

मेवात मुस्लिम आबादी वाला इलाका है, जहां के नूंह कस्बे में पिछले दिनों जो कुछ हुआ, उससे भारत विभाजन के समय हरियाणा के शहरों में हुए हिंदू-मुस्लिम दंगे का इतिहास ताजा हो गया। मेवात तीन वजहों से खास रहा है, जिससे उसकी विरासत का अंदाजा होता है। पहली वजह हसन खान मेवाती हैं, जिन्होंने बाबर द्वारा धर्म का वास्ता दिए जाने के बाद भी हिंदू राजा राणा सांगा की तरफ से युद्ध लड़ना मंजूर किया और युद्ध-भूमि में शहीद हुए। उनकी याद में आज भी मेवात के हिंदू और मुसलमान मिलकर जश्न मनाते हैं। दूसरी वजह, देश के बंटवारे के समय जब यहां के लोग भी देश छोड़ने की तैयारी कर रहे थे, तब गांधी जी से भरोसा मिलने के बाद उन्होंने हरियाणा के बाकी मुसलमानों से अलग पाकिस्तान न जाने का फैसला किया था। तीसरी वजह, शिक्षा, स्वास्थ्य, बाल मृत्यु दर, संचार क्रांति जैसे संकेतकों में यह उत्तर भारत के सबसे अभावग्रस्त इलाकों में एक है और इस कमजोरी को दूर करने के लिए यहां की नागरिक संस्थाएं कोशिशें कर रही हैं। हमें इन तीनों पहलुओं पर गौर करते हुए ही यहां के तनाव को समझना होगा।

आखिर इसका समाधान क्या है? बहुधर्मी समाज के कारण हमारा संविधान राज्य-सत्ता से निष्पक्षता की अपेक्षा करता है। कानून तोड़ने वालों से यदि हम धर्म का प्रश्न जोड़ देंगे, तो इससे राज्य की शक्ति घटेगी, सरकार का इकबाल भी घटेगा। इसीलिए सांप्रदायिक तनावों के समाधान की पहली शर्त यही है कि पुलिस-प्रशासन और न्यायपालिका निष्पक्ष रहे। गुरुग्राम कोई पिछड़ा क्षेत्र नहीं है, लेकिन वहां हिंदू-मुसलमानों के बीच पिछले दो दशकों से नमाज और पूजा को लेकर छोटे-बडे विवाद चल रहे हैं। निस्संदेह, सड़कों पर नमाज अदा करने का काम न तो धर्म की दृष्टि से, और न नागरिक अनुशासन के नजरिये से ही उचित है, लेकिन इसकी प्रतिक्रिया में मुखर वर्गों द्वारा मुसलमानों को नमाज अदा करने से ही वंचित कर देने का फैसला अजीब था। निर्वाचित सरकारों का अमूमन विवादों के समय वोट के लालच में अपने

समर्थकों के पक्ष में राज्य-सत्ता का पलड़ा झुकाने की प्रवृत्ति होती है। मगर हमें नहीं भूलना चाहिए, यह क्षणिक लाभ दीर्घकालिक नुकसान का ही दूसरा नाम है।

आजादी के बाद सांप्रदायिकता का जब तूफान आया था, तब पहले नेहरू-पटेल की जोड़ी ने और बाद में मौलाना आजाद, अमृत कौर, गोविंद वल्लभ पंत, लाल बहादुर शास्त्री, कमला देवी चट्टोपाध्याय, जय प्रकाश नारायण, राम मनोहर लोहिया आदि सभी नेताओं ने राष्ट्र-निर्माण के लिए सांप्रदायिक सद्भाव को बुनियादी जिम्मेदारी माना था। दंगों के दौरान समाज हतप्रभ होता है, क्योंकि हथियारबंद भीड़ से मुकाबला करने की क्षमता उसके पास नहीं होती। वह प्रशासन से अपेक्षा करता है, और यही कसौटी भी है। इसीलिए जहां सक्षम प्रशासनिक अधिकारी रहे हैं, वहां दंगे 48 घंटों में काबू में आ गए, पर जहां उन्होंने अपने विवेक को ताक पर रख दिया, वहां दंगे हफ्तों चले।

स्पष्ट है, संविधान को संभालना और नागरिकों को बचाना, दोनों काम होना चाहिए। संविधान एक महत्वाकांक्षी दस्तावेज है, जिसमें राजनीतिक समानता के आधार पर आर्थिक व सामाजिक समानता की रचना का संकल्प है। धर्म सामाजिक समानता की राह में रुकावट है, इसीलिए सर्वधर्म समभाव का सूत्र दिया गया है। यदि हमने हिंदू राष्ट्र, निजाम-ए-मुस्तफा, खालिस्तान जैसे आत्मघाती समाधानों की तरफ अपनी सोच को मोड़ा, तो यूगोस्लोवाकिया से लेकर लेबनान तक में जो हुआ, वही भारत में भी हो सकता है। हम अपने समाज में सांप्रदायिकता के फैलाव के लिए ठीक उसी तरह जिम्मेदार ठहराए जाएंगे, जिस तरह आज की पीढ़ी देश-विभाजन के लिए जिन्ना-सावरकर से लेकर नेहरू-पटेल तक को दोषी मानती है। हमें सर्वधर्म समभाव की सोच बढ़ानी ही होगी। एक तरफ संवाद के जरिये, तो दूसरी तरफ पुलिस-प्रशासन द्वारा निष्पक्ष कार्रवाई के माध्यम से हम सांप्रदायिक तत्वों से प्रभावी तरीके से निपट सकते हैं।